क्योंकि बैठे-बैठे भी असावधानी होने से गिरना सम्भव है। इसके उपरान्त यदि कोई व्यक्ति एक स्थान पर खड़ा हो जाये और आँख मींच ले, तब तो बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। ऐसे ही मोक्षमार्ग में स्थित होकर नियम-संयम से चलने वाले को सावधानी रखने की बड़ी आवश्यकता है।

आचार्यों ने कहा है कि खड़े होकर साधक यदि ध्यान लगाये या महाव्रती आहार ग्रहण करे तो इस बात का ध्यान रखे कि दोनों पञ्जों के बीच में लगभग बारह अंगुल का और दोनों पैरों की एड़ियों के बीच कम से कम चार अंगुल का अन्तर बनाये रखें। तभी संतुलन (बैलेंस) अधिक देर तक बना रह सकेगा, अन्यथा गिरना भी सम्भव है। यह तो खड़े होने की बात कही। यदि आप चल रहे हैं और मान लीजिये बहुत सकरे रास्ते से चल रहे हैं तब तो और भी सावधानी रखनी होगी। शिखरजी में चन्द्रप्रभु भगवान की टोंक पर चढ़ते समय सकरी पगडण्डी से चलना पड़ता है। सीढ़ियाँ नहीं हैं, ऊबड़-खाबड़ रास्ता है, तो वहाँ सन्तुलन आवश्यक हो जाता है। वैसे ही सभी जगह सन्तुलन आवश्यक है।

अभी आप यहाँ सुन रहे हैं। सुनने के लिए भी सन्तुलन की आवश्यकता है। जरा भी ध्यान यहाँ-वहाँ हुआ कि शब्द छूट जायेंगे। बात पूरी समझ में नहीं आ पायेगी। अभी थोड़ी देर पहले हम बोलते-बोलते रुक गये थे। आप पूछ सकते हैं कि ऐसा क्यों हुआ? तो बात ये है भइया! कि आचार्यों ने हमारे लिए भाषा-समिति पूर्वक बोलने का आदेश दिया है। आचार्यों ने कहा कि हमेशा संयम का ध्यान रखना। असंयमी के बीच बैठकर भी असंयम का व्यवहार नहीं करना। जिस समय बोलना सहज रूप से सम्भव हो उसी समय बोलना। यदि बोलते समय किसी व्यवधान के कारण बोलने में विशेष शक्ति लगानी पड़े तो भाषा-समिति भंग होने की संभावना रहती है। अभी ऊपर पण्डाल पर पानी की बूँदों के गिरने की तेज आवाज आ रही थी और माइक होते हुए भी आवाज आप तक नहीं पहुँच रही थी; अत: तेज आवाज में बोलना ठीक नहीं था, इसलिए चुप रह गया।

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'[3] प्रमाद पूर्वक प्राणों का घात करने से नियम से हिंसा होती है।

अत: संयम सभी क्षेत्रों में रखना होगा। संयम से व्यक्ति का स्वयं बचाव होता है और दूसरे का बचाव भी हो जाता है। जब आप लौकिक कार्यों में भी

संयम का ध्यान रखते हैं तो आचार्य कहते हैं कि जिस मोक्षमार्ग पर मुमुक्षु चलता है उसके लिए तो चौबीसों घण्टे या जीवन पर्यन्त ही सावधानी की, संयम की बड़ी आवश्यकता होती है। थोड़े समय के लिए भी यदि असंयम भाव आ जायेगा तो नियम से वह गुणस्थान से नीचे गिर जायेगा अर्थात् परिणामों से पतित हो जायेगा। तब जहाँ निर्जरा होना अपेक्षित थी, वहाँ निर्जरा न होकर बन्ध होना प्रारम्भ हो जायेगा। असंयम के द्वारा जो बन्ध होता है वह कभी भी पूरी तरह निर्जरित नहीं हो सकता और मुक्ति भी नहीं मिलती। संयम के साथ जो संवर पूर्वक निर्जरा होती है उसी से निर्बन्ध दशा की प्राप्ति होती है। संयम के द्वारा प्रतिक्षण असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती रहती है।

तत्त्वार्थ सूत्र में एक सूत्र आया है - 'सम्यग्दृष्टि - श्रावक - विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोह - क्षपकोपशमकोपशान्त - मोहक्षपक - क्षीणमोह - जिना:क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा:[4] इसमें कहीं भी असंयम के द्वारा असंख्यात गुणी निर्जरा होने का उल्लेख नहीं आया। सम्यग्दर्शन के साथ भी मात्र उत्पत्ति के समय असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, उसके उपरान्त नहीं। जीवन पर्यन्त सम्यग्दृष्टि अकेले सम्यक्त्व के द्वारा असंख्यात गुणी निर्जरा नहीं कर सकता। लेकिन यदि वह देशसंयम को अंगीकार कर लेता है, अर्थात् श्रावक के व्रत अंगीकार कर लेता है, तो उसे असंख्यात गुणी निर्जरा होने लगती है। एक क्षायिक सम्यग्दृष्टि मान लीजिये सामायिक के काल में सामायिक करने बैठा है तो भी उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा नहीं होगी और वहीं एक देशव्रती भोजन कर रहा है तो भी उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा हो रही है। आचार्य कहते हैं कि यही तो संयम का लाभ है तथा संयम का महत्व है। यदि कोई सकल-संयम को धारण करके महाव्रती बन जाता है तो उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा और बढ़ जाती है। एक देश संयमी श्रावक सामायिक में जितनी कर्म-निर्जरा करता है उससे असंख्यात गुणी निर्जरा एक मुनि महाराज आहार लेते समय भी कर लेते हैं। इसका कारण यही है कि जिसने संयम की ओर जितने कदम ज्यादा बढ़ाये हैं उसकी कर्म-निर्जरा भी उतनी ज्यादा होगी। इतना ही नहीं, जिसने संयम की ओर कदम बढ़ाये उसके लिए बिना मांगे ऐसा अपूर्व-पुण्य का सञ्चय भी होने लगता है जो असंयमी के लिए कभी सम्भव ही नहीं है।

संयम वह है जिसके द्वारा अनन्तकाल से बन्धे संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं। तीर्थङ्कर भगवान भी घर में रहकर मुक्ति नहीं पा सकते। वे भी संयम लेने के उपरान्त निर्जरा करके सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं। सम्यग्दर्शन

का काम इतना ही है कि हमें प्रकाश मिल गया। अब मञ्जिल पाने के लिए चलना हमें ही है। उद्यम हमें करना है और उस उद्यम में जितनी गति होगी उतनी ही जल्दी मञ्जिल समीप आ जायेगी।

संयम के माध्यम से ही आत्मानुभूति होती है। संयम के माध्यम से ही हमारी यात्रा मञ्जिल की ओर प्रारम्भ होती है और मञ्जिल तक पहुँचती है। यात्रा-पथ तो संयम का ही है। देशसंयम और सकल संयम ही पथ बनाते हैं क्योंकि चलने वाले से ही पथ का निर्माण होता है। बैठा हुआ व्यक्ति पथ का निर्माण नहीं कर सकता। वह पथ को अवरूद्ध अवश्य कर सकता है। असंयम के संस्कार अगर देखा जाए तो अनादिकाल से हैं तभी तो आज तक आप कभी भी, भूलकर भी, स्वप्न में भी दीक्षित नहीं हुए होंगे। कभी मुनि महाराज बनने का स्वप्न नहीं देखा होगा। हाँ, महाराजों को आहार देने का स्वप्न अवश्य देखा होगा।

जिसकी संयम में रुचि गहरी है वह स्वप्न में भी अपने को संयमी ही देखता है। जिसका मन अभी दिन में भी भगवान की पूजा, भक्ति और संयम की ओर नहीं लगता वह रात्रि में स्वप्न में भगवान की पूजा करते हुए या संयम पूर्वक आचरण करते हुए स्वयं को कैसे देख पायेगा? बन्धुओं! अगर अपना आत्म, कल्याण करना हो तो संयम कदम-कदम पर अपेक्षित है। लेकिन ध्यान रखना, संयम के माध्यम से किसी लौकिक चीज की अपेक्षा मत रखना। अन्यथा वह बाह्य तप या अकाम-निर्जरा की कोटि में ही आयेगा।

समन्तभद्र स्वामी ने स्वयम्भू-स्तोत्र में शीतलनाथ भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि-

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्मराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥[५]

हे शीतलनाथ भगवन्! आपने जो संयम धारण किया, आपने जिस चारित्र को अंगीकार किया उसका उद्देश्य साधारण नहीं था। अन्य तपस्वियों की तरह आपने 'अपत्य-तृष्णया' अर्थात् पुत्र-रत्न की प्राप्ति की वाञ्छा से या 'वित्त-तृष्णया' अर्थात् धन-प्राप्ति की आकांक्षा से या 'उत्तरलोकतृष्णया' अर्थात् परलोक या कदाचित् इहलोक के सुखों की प्राप्ति की आकांक्षा से संयम धारण नहीं किया, अपितु जन्म-जरा और मृत्यु का नाश करने के लिए संयम को अंगीकार किया है। यही आपकी असाधारण विशेषता है। आप रात-दिन अपनी आत्मा में लीन रहे। कभी प्रमाद को अंगीकार नहीं किया

तथा कषाय को भी अंगीकार नहीं किया। आपकी प्रत्येक क्रिया में सावधानी ही नजर आती है। चलते समय आप सावधान रहे, भोजन करते समय भी आपने सावधानी को नहीं छोड़ा। अतः आप जैसे संयमी की चर्या से चौबीसों घण्टे उपदेश मिलता रहता है।

संयमी का पूरा जीवन ही उपदेशमय हो जाता है। दौलतराम जी ने बारह-भावना का उपसंहार करते हुए पाँचवी-ढाल में लिखा है कि-

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये ।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥[६]

और आचार्य पूज्यपाद स्वामी भी सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में कहते हैं कि "अवाक्-विसर्ग वपुषा निरूपयन्तं मोक्षमार्ग" -वचन बोले बिना, कुछ कहे बिना, जिनके दर्शन मात्र से मोक्षमार्ग का निरूपण होता रहता है, ऐसे सकल-संयम के धारी वीतरागी आचार्य ही भव्य जीवों का कल्याण करने में सहायक होते हैं।

जिसके भीतर संयम के प्रति रुचि है वह तो संयमी के दर्शन मात्र से ही अपने कल्याण के पथ को अंगीकार कर लेता है। जिसे अभी आत्मतत्व के बारे में जिज्ञासा ही नहीं हुई कि हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? ऐसे कब से हैं? और ऐसे ही क्यों हैं? हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है? वह मोक्षमार्ग पर कैसे कदम बढ़ायेगा। जिसके मन में ऐसी जिज्ञासा होती है, वही संयम के प्रति और संयमी के प्रति भी आकृष्ट होता है। वह ही सच्चा मुमुक्षु है।

यह तो भीतरी बात हुई, पर बाहर का भी प्रभाव कम नहीं है। एक संयमी व्यक्ति के संयमित आचरण को देखकर दूसरा भी संयम की ओर कदम बढ़ाने लग जाता है। जैसे क्लास में एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पर आ जाये तो सारे के सारे विद्यार्थियों की दृष्टि उस ओर चली जाती है और मास्टर के कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि तुम सभी को और मेहनत पढ़ाई में करनी चाहिये। विद्यार्थी अपने आप पढ़ने में मेहनत करने लग जाते हैं। एक राजा यदि संयम ग्रहण कर लेता है तो अन्य प्रजाजनों के मन में भी संयम के प्रति अभिरुचि अवश्य जागृत होने लगती है। वीतरागता की सुगन्ध अपने आप सभी तरफ फैलकर अपना प्रभाव डालती है और स्वयमेव ज्ञात होने लगता है कि आत्मोपलब्धि के लिए संयम की बड़ी आवश्यकता है।

संयम का एक अर्थ इन्द्रिय और मन पर लगाम लगाना भी है और असंयम का अर्थ बे-लगाम होना है। बिन ब्रेक की गाड़ी और बिना लगाम का घोड़ा जैसे अपनी मञ्जिल पर नहीं पहुँचता; उसी प्रकार असंयम के साथ

जीवन बिताने वाले को मञ्जिल नहीं मिलती। एक नदी मञ्जिल तक तभी पहुँच सकती है, सागर तक तभी जा सकती है जब कि उसके दोनों तट मजबूत हों। यदि तट भंग हो जायें तो नदी वहीं-कहीं मरुभूमि में विलीन हो जायेगी। उसी प्रकार संयम रूपी तटों के माध्यम से हम अपने जीवन की धारा को मञ्जिल तक ले जाने में सक्षम होते हैं। अकेला सम्यग्दर्शन विषयों की ओर जाते हुए इन्द्रिय और मन को रोक नहीं पाता। उसके साथ सम्यक् चारित्र का होना भी नितान्त आवश्यक है।

संयमी व्यक्ति ही कर्म के उदय रूपी थपेड़े झेल पाता है। जैसे बिजली के वायर में भारी से भारी करेण्ट क्यों न हो, लेकिन एक जीरो वॉट का बल्व लगा दिया जाए तो वह सारे के सारे करेण्ट को सँभाल देता है और धीमा-धीमा प्रकाश बाहर आ पाता है। जबकि उसी स्थान पर अगर सौ वॉट का वल्व लगा दिया जाये तो पूरा प्रकाश बाहर आने लगता है; इसी प्रकार भीतरी कर्म के उदय को सँभालने के लिए संयम जीरो वॉट के बल्व की तरह काम करता है। वह उदय आने पर विचलित नहीं होने देता। संयम बनाये रखता है। कर्म अपना प्रभाव पूरा नहीं दिखा पाता।

कर्म के वेग और बोझ को सहने की क्षमता असंयमी के पास नहीं है। वह तो जब चाहे तब जैसा कर्म का उदय आया, वैसा कर लेता है। खाने की इच्छा हुई और खाने लगे। देखने की इच्छा हो गयी तो देख लिया। सुनने की इच्छा हुई तो सुन लिया। वास्तव में देखा जाये तो इन्द्रियाँ कुछ नहीं चाहती। वे तो खिड़कियाँ के समान हैं। भीतर बैठा हुआ मन ही उन खिड़कियों के माध्यम से काम करता रहता है। कभी कर्णेन्द्रिय के माध्यम से शब्द की ओर आकृष्ट होता है, कभी आँख के द्वारा रूप को देखकर मुग्ध हो जाता है, कभी नासिका के द्वारा सूँघ लेता है, कभी वह रसना इन्द्रिय के द्वारा रस चखने की आकांक्षा करता है, तो कभी स्पर्श इन्द्रिय के माध्यम से बाह्य पदार्थों के स्पर्श में सुख मानता है। जो उस मन पर लगाम लगाने का आत्म पुरुषार्थ करता है, वही संयमी हो पाता है और वही कर्म के उदय को, उसके आवेग को झेल पाता है।

वह संयमी विचार करता है कि इन्द्रियों के विषयों की ओर जाना आत्मा का स्वभाव नहीं है। मेरा/आत्मा का स्वभाव तो मात्र अपनी ओर देखना और अपने को जानना है। संयमी ही ऐसा विचार कर पाता है और संयमी ही आत्म पुरुषार्थ के बल पर अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

'न भूत की स्मृति, अनागत की अपेक्षा, भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं, वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं ॥'[9]

संयमी ही वास्तव में ज्ञानी है। जिसे पूर्व में भोगे गये इन्द्रिय विषयों की स्मृति करना भी नहीं रुचता और आगे भोगोपभोग की सामग्री मिले, ऐसी लालसा भी मन में नहीं आती। वह तो विषयों को विष मानकर छोड़ देता है और निरन्तर हमें/संसारी प्राणियों को वैराग्य का पाठ सिखाता है। वैराग्य का पाठ सिखाने वाला संयमी के अलावा और कोई नहीं हो सकता। आप चाहो कि संयम के अभाव में मात्र सम्यग्दर्शन में यह काम हो जाये तो सम्भव नहीं है।

मैं पूछता हूँ कि यदि धर्म का फल मुक्ति है, ऐसा मजबूत श्रद्धान आपका है तो मोक्षमार्ग पर चलने का साहस क्यों नहीं है? रात्रि में खाते नहीं है पर रात्रि भोजन का त्याग भी नहीं है। तात्पर्य यही हुआ कि कभी खाने का अवसर आया तो खा भी लेंगे। रास्ते से चलते समय आप देखकर चलते हैं, क्योंकि कङ्कर-पत्थर या काँटा लगने का भय है, लेकिन नीचे देखकर चलने के पीछे चींटी आदि को बचाने का भाव कभी नहीं आता। खाने-पीने की चीजें देखकर खाते पीते हैं कि कहीं भीतर जाकर शरीर के लिए बाधक न बन जायें। वहाँ दृष्टि आगम की अपेक्षा शोधन करने की नहीं है। अभिप्राय में यही अन्तर असंयम का प्रतीक है।

एक बार पन्द्रह अगस्त की बात है। जिस समय हम स्कूल जाते थे। स्कूल में सुबह पहले प्रभात फेरी निकाली गयी फिर बाद में ध्वजारोहण किया जाना था। प्रबन्ध सब हो गया। ध्वजारोहण के साथ ही पुष्पवृष्टि की व्यवस्था भी की गयी थी। जब ध्वजारोहण के लिए डोर खींची गयी तो पुष्पवृष्टि नहीं हुई और ध्वजा भी नहीं फहरायी। बात यह हुई कि असावधानी हो गयी। ऐसी गाँठ ध्वजा की डोर में लगा दी कि समय पर डोर खींचने से खुली नहीं और ध्वजा के साथ पुष्पवृष्टि भी नहीं हुई।

दुनियाँ के बन्धन सब ऐसे ही हैं। तब हमने उसी समय समझ लिया कि भइया! ऐसे बन्धन में नहीं बन्धना है कि जिसके द्वारा जीवन में पुष्पवृष्टि रुक जावे। धर्म का फल मुक्ति है, ऐसा श्रद्धान होते ही संयम में इस ढंग से बन्धो कि धर्म-ध्वजा ऊपर भी पहुँच जाये और ऊपर पहुँचकर फहराये तथा पुष्पों की वर्षा भी हो। बिना बन्धे तो ध्वजा ऊपर नहीं जायेगी और न ही पुष्प ऊपर जा पायेंगे, इसलिए बन्धन तो अनिवार्य है, पर ऐसा बन्धन कि डोर खींचते ही ध्वजा फहराये और पुष्पों की वर्षा हो। गाँठ इतनी ढीली भी न हो कि बीच में ही खुल जाये और पुष्प गिर जायें। अकाल वृष्टि भी ठीक नहीं, अतः समय पर वृष्टि हो और वातावरण में सुगन्ध फैल जाये।

बन्धुओं! संयम ऐसा चाहिये जो जीवन में सुगन्धि पैदा कर दे। संयम के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन में आदि से लेकर अन्त तक पुष्पवृष्टि के द्वारा अभिषिक्त होता रहता है। उसके जीवन में कभी विषाद, या विकलांगता या दीनता-हीनता नहीं आती। वह तो राजाओं से बढ़कर अर्थात् महाराजा बनकर निश्चिन्तता को पा लेता है। उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रहती। वह हमेशा खुश रहता है। ध्यान रखना- खुश्क नहीं रहता, खुश रहता है। (हँसी) हाँ ऐसा ही खुश। उसके वचन भी खुश रहते हैं। जीवन भी खुश रहता है। सभी कुछ खुश रहता है और इस खुशहाली का कारण उत्तम-संयम ही है।

सारे बन्धनों से मुक्त होकर, सभी कुछ छोड़कर एक मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र से बँधना होता है, तभी जीवन में स्वतन्त्रता आती है। जीवन में उच्छृंखलता ठीक नहीं है। भारत को स्वतन्त्रता पाये आज लगभग अड़तीस वर्ष हो गये, लेकिन स्वतन्त्रता जैसा अनुभव यदि कोई नहीं कर पाता तो उसका कारण यही है कि संयम को प्राप्त नहीं किया। वैसे तो स्वतन्त्रता को प्राप्त करना ही कठिन है, लेकिन स्वतन्त्रता के द्वारा आनन्द का अनुभव करना बिना संयमित जीवन के सम्भव नहीं है।

संयम के साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जीवन में सुगन्ध आ रही है या नहीं? जीवन में संयम के साथ सुगन्ध तभी आती है जब हम संयम को प्रदर्शित नहीं करते बल्कि अन्तरङ्ग में प्रकाशित करते हैं। प्रायः करके यही देखने में आ जाता है कि संयम का प्रदर्शन करने वालों के जीवन में खुशबू न देखकर अन्य लोग भी संयम से दूर हटने लग जाते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि कागज के बनावटी फूलों से खुशबू आ कैसे सकती है? संयम प्रदर्शन की चीज नहीं है। दिखावे की चीज नहीं है।

अष्टपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मुनियों के लिए लिखा है कि 'भावेण होई णग्गो[8]' यानि भाव से नग्न हो। भाव से नग्नता ही जीवन को सुवासित करेगी, मात्र बाह्य नग्नता से काम नहीं चलेगा। साथ ही, यह भी कह दिया कि सकल संयम का धारी मुनि अपने आप में स्वयं तीर्थ है। उसे अन्य किसी तीर्थ पर जाना अनिवार्य नहीं है। लेकिन वह प्रमाद भी नहीं करता यानी तीर्थ के दर्शन मिलते हैं तो अवश्य करता है और नहीं मिलने पर अपने लिए जिन-बिम्ब का निर्माण भी नहीं कराता।

बड़ी सावधानी का काम है। जो भगवान को अपने हृदय में स्थापित कर लेता है वह तो प्रतिक्षण उनके दर्शन करता ही रहता है स्वयम्भूस्तोत्र में नमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि-

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा ।
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ॥
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायस-पथे ।
स्तुयान्नत्यां विद्वान् सततमभि पूज्यं नमिजिनम् ॥[9]

हे नमि जिन! आप यहाँ हो तो ठीक और यहाँ नहीं हो तो भी ठीक। कुशल परिणामों के द्वारा की गयी आपकी स्तुति फलदायिनी हुए बिना रह नहीं सकती। आपके द्वारा बताया गया श्रेयस्कर मार्ग स्वाश्रित और सहज सुलभ है। इसी से तो विद्वान-जन आपके चरणों में नतमस्तक होते हैं और आपकी ही स्तुति करते हैं। यह है संयमी की आस्था। आस्था के साथ संयमपूर्वक भक्ति की क्रिया चलती है। इसलिये तो संयमी को कहा कि तुम स्वयं चैत्य हो। तुम स्वयं तीर्थ हो। धर्म की मूर्ति भी तुम स्वयं हो। तुम्हें देखकर अनेकों को दिशाबोध मिल जाता है।

ऐसा यह जिनलिङ्ग धारण करने वाले संयमी महाव्रती का माहात्म्य है। जिसने तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखा, आरम्भ और विषय कषाय सब छोड़ दिया। हाथ से भी छोड़ दिया और मन से भी छोड़ दिया। इस जिनलिङ्ग को धारण करने वाले हे मुनि! अब स्मरण रखना कि कभी जोड़ने का भाव न आ जाये। भाव से भी नग्न रहना। अन्यथा संयम का बाना मात्र प्रदर्शन होकर रह जायेगा। संयम तो दर्शन की वस्तु है, उसे प्रदर्शन की वस्तु नहीं बनाना।

संयम वह है जिसके द्वारा जीवन स्वतन्त्र और स्वावलम्बी हो जाता है। ऐसा संयम प्राप्त करना सरल भी है, और कठिन भी। जो चौबीसों घण्टे अपने में लीन रहे, अपने आत्मा के आनन्द को पान करे उसे तो सरल है और जब कोई अपने अकेले होने से आनन्द के स्थान पर दुःख का अनुभव करने लगे तो यही उसे कठिन हो जाता है। जैसे कि बारात घर से चली जाती है तो घर में ऐसा लगता है कि भाग चलो यहाँ से। हमारी निधि ही मानों यहाँ से चली गयी हो। संयमी व्यक्ति जब संयोग और वियोग सभी में समान भाव से रहता है तो संयम का मार्ग सरल लगने लगता है। अपने में लीनता आना ही सरलता की ओर जाना है? संयमित जीवन में प्रतिक्षण आत्मा का अध्ययन रहता है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मुनियों के अट्ठाईस मूलगुणों में षट् आवश्यक के अन्तर्गत अलग से स्वाध्याय नहीं रखा। नियमसार ग्रन्थ में कह दिया कि प्रतिक्रमण ही स्वाध्याय है। जो चौबीसों घण्टे अपने आवश्यकों में मन को

लगाये रखता है, उसका स्वाध्याय तो निरन्तर चलता ही रहता है। इर्या-समिति पूर्वक चलना, एषणा-समिति पूर्वक आहार ग्रहण करना, भाषा समिति पूर्वक बोलना, आदान-निक्षेपण समिति को ध्यान में रखते हुए उठना-बैठना, उपकरणों को उठाना-रखना तथा मलमूत्र के विसर्जन के समय प्रतिष्ठापन-समिति का पालन करना, इन सभी के माध्यम से जो निरन्तर सावधानी बनी रहेंगी, जागरूकता और अप्रमत्तता बनी रहेगी, वही तो स्वाध्याय है।

संयोग-वियोग में जो समता परिणाम बनाये रखता है तथा अनुकूलता और प्रतिकूलता में हर्ष-विषाद नहीं करता, ऐसा संयमी व्यक्ति ही सच्चा स्वाध्याय करने वाला है। अब तो कोई संयम पूर्वक ग्रन्थ की उपयोगी बातों को हृदयङ्गम नहीं करते, मात्र दूसरे को बताने की दृष्टि से समयसार आदि महान ग्रन्थों को मुखाग्र कर लेते हैं। कहें कि मात्र शिरङ्गम कर लेते हैं और इसी को स्वाध्याय मानकर बैठ जाते हैं।

बन्धुओं! वास्तव में तो स्वाध्याय अपनी प्रत्येक क्रिया के प्रति सजग रहने में है। 'स्व' का निकट से अध्ययन करने में है। संयमपूर्वक प्रत्येक घड़ी, असंख्यात गुणी निर्जरा करते हुए समय का सदुपयोग करना ही कल्याणकारी है और इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

संयम धर्म -

१. रत्नकरण्डक श्रावकाचार-४७
२. शान्तिभक्ति -१
३. तत्त्वार्थसूत्र ७/१३
४. तत्त्वार्थसूत्र १/४५
५. स्वयम्भूस्तोत्र ४१
६. छहढाला (पाँचवी ढाल-१५)
७. समयसार-गाथा २२८ (हिन्दी पद्यानुवाद आ. विद्यासागर कृत)
८. भावपाहुड ७३

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिगं जिणाणाए ।।

९. स्वयम्भूस्तोत्र-११६

□□

उत्तम-तप

विसयकसायविणिग्गह,भावं काऊण झाणसिज्झीए।
जो भावई अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण।।

□ **पाँचों इन्द्रियों के विषयों को तथा चारों कषायों को रोककर शुभध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का विचार करता है उसके नियम से तप-धर्म होता है। (७७)**

आम अभी हरा-भरा डाल पर लटक रहा है। अभी उसमें से कोई सुगन्ध नहीं फूटी है और रस भी चखने योग्य नहीं हुआ है, किन्तु बगीचे के माली ने उस आम्रफल को तोड़ा और अपने घर में लाकर पलाश के पत्तों के बीच रख दिया है। तीन-चार दिन के उपरान्त देखा तो वह आम्रफल पीले रंग का हो गया, उसमें मीठी-मीठी सुगन्ध फूट गयी है और रस में भी मीठापन आ गया, कठोरता के स्थान पर कोमलता आ गयी। खाने के लिए आपका मन ललचाने लगे, मुख में पानी आ जाये। ऐसा इतना अविलम्ब परिवर्तन उसमें कैसे आ गया? तो माली ने बता दिया कि यह सब अतिरिक्त ताप/उष्मा का परिणाम है। तप के सामने कठोरता को भी मुलायम होना पड़ता है और नीरस भी सरस हो जाता है। सुगन्धी फूटने लगती है और खटाई, खटाई में पड़ जाती है। अर्थात् मीठापन आ जाता है।

आज तप का दिन है। बात आपके समझ में आ गयी होगी। अनादि-काल से संसारी प्राणी इसी तरह कच्चे आम्रफल के रूप में रह रहा है। तप के अभाव में चाहे वह संन्यासी हो, चाहे वनवासी हो या भवनवासी हो अर्थात् महलों में रहने वाला हो, उसका पकना सम्भव नहीं है। तप के द्वारा भी पूर्व सञ्चित कर्म पककर खिर जाते हैं, मङ्गतराय की 'बारह भावना' में निर्जरा-भावना के अन्तर्गत कुछ पंक्तियाँ आती हैं-

उदय भोग सविपाक समय, पक जाय आम डाली ।
दूजी है अविपाक पकावै पाल विषैं माली ।।[1]

जैसे वह माली पलाश के पत्तों में पाल लगाकर आम्रफल को समय से पहले पकाने की प्रक्रिया करता है और बाहरी हवा से बचाये रखता है। तब वह आम्रफल मीठा होकर, मुलायम होकर सुगन्ध फैलाने लगता है, यही स्थिति

यहाँ परमार्थ के क्षेत्र में भी है। आत्मा के स्वभाव का स्वाद लेने के लिए कुन्दकुन्द आचार्य जैसे महान् आचार्य हमें सम्बोधित करते हैं कि हे भव्य! यदि रत्नत्रय को धारण कर लो तो शीघ्र ही तप के माध्यम से तुम्हारे भीतर आत्मा की सुगन्धी फूटने लगेगी और आत्मा का निजी स्वाद आने लगेगा। रत्नत्रय के साथ किया गया तपश्चरण ही मुक्ति में कारण बनता है।

तपश्चरण करना अर्थात् तपना जरूरी है और तपने की प्रक्रिया भी ठीक-ठीक होनी चाहिये। जैसे किसी ने हलुआ की प्रशंसा सुनी तो सोचा कि हम भी हलुआ खायेंगे। पूछा गया कि हलुआ कैसे बनेगा? तो किसी ने बताया कि हलुआ बनाना बहुत सरल है। तीन चीजें मिलना पड़ती है। आटा चाहिये, घी और शक्कर चाहिये। तीनों को मिला दो तो हलुआ बन जाता है। उस व्यक्ति ने जल्दी-जल्दी से तीनों चीजें मिला कर खाना प्रारम्भ कर दिया, लेकिन स्वाद नहीं आया। आनन्द नहीं आया। कुछ समझ में नहीं आया कि बात क्या हो गयी? फिर से पूछा कि जैसा बताया था उसी के अनुसार तैयार किया है लेकिन स्वाद क्यों नहीं आया? जैसा सुना था वैसा आनन्द नहीं आया। तो वह बताने वाला हँसने लगा, बोला कि अकेले तीनों को मिलने से स्वाद नहीं आयेगा। हलुआ का स्वाद तो तीनों को ठीक-ठीक प्रक्रिया करके मिलाने पर आयेगा और इतना ही नहीं, अग्नि पर तपाना भी होगा। फिर तीनों जब धीरे-धीरे एकमेक हो जाते हैं, स्वाद तभी आता है और सुगन्ध तभी फूटती है।

'जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प बच भेद् न जहाँ'[2] ध्यान में पहुँचकर ऐसी स्थिति आ जाती है। चेतना इतनी जागृत हो जाती है कि ध्यान करने वाला, ध्यान की क्रिया और ध्येय, तीनों एकमेक हो जाते हैं। बिना अग्नि-परीक्षा के तीनों को मिलना सम्भव नहीं है। ध्यान की अग्नि में तपकर ही परम पद का स्वाद पाया जा सकता है। मिलना ऐसा हो कि जैसे हलुआ में यह शक्कर है, यह घी है और यह आटा है- ऐसा अलग-अलग स्वाद नहीं आता, एकमात्र हलुआ का ही स्वाद आता है, ऐसा ही आत्मा का स्वाद ध्यान में एकाग्रता आने पर आता है।

किसी को पकौड़ी या बड़ा खाने की इच्छा हुई तो वह क्या करेगा? सारी सामग्री अनुपात से मिलाने के उपरान्त कहाड़ी में तलना पड़ेगा। बड़ा बनाने के लिए बड़े को अग्नि परीक्षा देनी होगी। बिना अग्नि में तपे बड़ा नहीं बन सकता। इसी प्रकार केवलज्ञान की प्राप्ति रत्नत्रय के साथ एक अन्तर्मुहूर्त

तक ध्यानाग्नि में तपे बिना सम्भव नहीं होती। रत्नत्रय के साथ पूर्व कोटि व्यतीत हो सकते हैं, लेकिन मुक्ति पाने के लिए चतुर्विध आराधना करनी होगी। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना अर्थात् रत्नत्रय की आराधना के साथ ही साथ, चौथी तप आराधना करना भी आवश्यक है।

जिस समय कोई दीक्षित हो जाता है, श्रमण बन जाता है तो उसे रत्नत्रय या पञ्चाचार का पालन करना होता है। किन्तु ध्यान रखना, उसके साथ ही साथ उसके लिए एक तप और विशेष रूप से दिया जाता हैं। इसलिए कि तप का अनुभव वह साधक यहीं से प्रारम्भ कर दे और रत्नत्रय का स्वाद उसे आने लगे। साक्षात् मुक्ति रत्नत्रय से युक्त होकर तप के द्वारा ही होती है। अकेले रत्नत्रय से अर्थात् भेद रत्नत्रय से मुक्ति परम्परा से होती है। जैसे दुकान पर तुरन्त लाभ पाने के लिए आप कड़ी मेहनत करते हैं, ऐसे ही मोक्षमार्ग में तुरन्त मुक्ति पाने के लिए आचार्यों ने तप को रखा है।

परमात्म प्रकाश में योगीन्दु देव ने लिखा है कि-

जे जाया झाणग्गियएँ कम्म-कलंक डहेवि।
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि।।[3]

उन परमात्मा को हम बार-बार नमस्कार करते हैं, जिन्होंने परमात्मा बनने से पहले ध्यान रूपी अग्नि में अपने को रत्नत्रय के साथ तपाया है और स्वर्ण की भाँति तपकर अपने आत्म-स्वभाव की शाश्वतता का परिचय दिया है। स्वर्ण की सही-सही परख अग्नि में तपाने से ही होती है। उसमें बट्टा लगा हो तो निकल जाता है और सौ टञ्च सोना प्राप्त हो जाता है। जैसे पाषाण में विद्यमान स्वर्ण से आप अपने को आभूषित नहीं कर सकते, लेकिन अग्नि में तपाकर उसे पाषाण से पृथक् करके, शुद्ध करके, उसके आभूषण बनाकर आभूषित हो जाते हैं। इसी प्रकार तप के माध्यम से आत्मा को विशुद्ध करके परम पद से आभूषित हुआ जा सकता है। यही तप का माहात्म्य है।

दक्षिण भारत में कर्नाटक के आसपास विशेष रूप से बेलगाम जिले में ज्वार की खेती प्रायः अधिक होती है। वहाँ कुछ लोग पानी पड़ जाने के डर से समय से पूर्व आठ-दस दिन पहले ही यदि ज्वार को काटकर छाया में रख लेते हैं, तो घाटे में पड़ जाते हैं। लेकिन जो अनुभवी किसान हैं, वे जानते हैं कि यदि मोती जैसी उज्ज्वल ज्वार चाहिये हो तो उसे पूरी तरह पक जाने पर ही काटना चाहिये। इसलिए वे पानी की चिन्ता नहीं करते और पूरी

की पूरी अवधि को पार करके ही ज्वार काटते हैं। जो पूरी की पूरी सीमा तक तपन देकर ज्वार काटता है, उसके ज्वार घुँघरू की तरह आवाज करने वाले और आटे से भरपूर रहते हैं। वे वर्ष भर रखे भी रहें तो भी कीड़े वगैरह नहीं लगते। खराबी नहीं आती। इसी प्रकार पूरी तरह तप का योग पाकर रत्नत्रय में निखार आता है, फिर कैसी भी परिस्थिति आये, वह रत्नत्रय का धारी मुनि हमेशा अपनी विशुद्धि बढ़ाता रहता है। संक्लेश परिणाम नहीं करता। जो आधा घण्टे सामायिक करके जल्दी-जल्दी उठ जाते हैं, वे जल्दी थक भी जाते हैं, विचलित हो जाते हैं। लेकिन जो प्रतिदिन दो-दो, तीन-तीन घण्टे सामायिक और ध्यान में लीन रहने का अभ्यास करते हैं, उनकी विशुद्धि हमेशा बढ़ती ही जाती है। इधर-उधर के कामों में उनका मन नहीं भटकता और वे एकाग्र होकर अपने में लगे रहते हैं।

तप की महिमा अपरम्पार है। दूध को तपाकर मलाई के द्वारा घी बनाते हैं। तब उसका महत्व अधिक हो जाता है। घी के द्वारा प्रकाश और सुगन्धी, दोनों ही प्राप्त किये जा सकते हैं। वह पौष्टिक भी होता है। घी की एक और विशेषता है कि घी को फिर किसी भी तरल पदार्थ में डुबोया नहीं जा सकता। घी को दूध में भी डाल दो तो भी वह दूध के ऊपर-ऊपर तैरता रहता है। इसी प्रकार तप के माध्यम से विशुद्ध हुई आत्मा लोक के अग्र भाग पर जाकर विराजमान होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा कि जब भी मुक्ति मिलेगी, तप के माध्यम से ही मिलेगी। विभिन्न प्रकार के तपों का आलम्बन लेकर जो समय-समय पर आत्मा की आराधना में लगा रहता है, उसे ही मोक्षपद प्राप्त होता है। जब कोई परम योगी, जीव रूपी लोह-तत्व को सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी औषध लगाकर तप रूपी धौंकनी से धौंककर तपाते हैं, तब वह जीव रूपी लोह-तत्व स्वर्ण बन जाता है। संसारी प्राणी अनन्त काल से इसी तप से विमुख हो रहा है और तप से डर रहा है कि कहीं जल न जायें। पर वैचित्र्य यह है कि आत्मा के अहित करने वाले विषय-कषायों में निरन्तर जलते हुए भी सुख मान रहा है। 'आतम हित हेतु विराग ज्ञान। ते लखें आपको कष्ट दान।[4]' जो आत्मा के हितकारी ज्ञान और वैराग्य हैं, उन्हें कष्टकर मान रहा है। बन्धुओं! जब भी कल्याण होगा ज्ञान, वैराग्य और तप के माध्यम से ही होगा।

आचार्यों ने तप के दो भेद कहे हैं- एक भीतरी अंतरङ्ग तप और दूसरा बाह्य तप। बाहरी तप एक प्रकार से साधन के रूप में है और अंतरङ्ग तप

की प्राप्ति में सहकारी है। बाहरी तप के बिना भीतरी तप का उद्भव सम्भव नहीं है। जैसे दूध को तपाना हो तो सीधे अग्नि पर तपाया नहीं जा सकता। किसी बर्तन में रखकर ही तपाना होगा। दूध को बर्तन में तपाते समय कोई पूछे कि क्या तपा रहे हो, तो यही कहा जायेगा कि दूध तपा रहे हैं। कोई भी यह नहीं कहेगा कि बर्तन तपा रहे हैं। जबकि साथ में बर्तन भी तप रहा है। पहले बर्तन ही तपेगा फिर बाद में भीतर का दूध तपेगा। इसी प्रकार बाहरी तप के माध्यम से शरीर रूपी बर्तन तपता है और बाहर से तपे बिना भीतरी तप नहीं आ सकता। भीतरी आत्म-तत्व को तप के माध्यम से तपाकर सक्रिय करना हो तो शरीर को तपाना ही पड़ेगा। पर वह शरीर को तपाना नहीं कहलायेगा, वह तो शरीर के माध्यम से भीतरी आत्मा में बैठे विकारी भावों को हटाने के लिए, विकारों पर विजय पाने के लिए किया गया तप ही कहलायेगा।

जो सही समय पर इन तपों को अङ्गीकार कर लेते हैं, वास्तव में वह समय के ज्ञाता हैं और समय-सार के ज्ञाता भी हैं। ऐसे तप को अङ्गीकार करने वाले विरले ही होते हैं। तप के ऊपर विश्वास भी विरलों को ही हुआ करता है, उसकी चर्चा भी विरले लोग ही सुन पाते हैं। यह सभी दुर्लभ से दुर्लभ बातें हैं। कल्पना करें कि कैसा होता होगा, जब साक्षात् भगवान के समवशरण में तप की देशना होती होगी और भव्य आत्माएँ भगवान के सम्मुख समवशरण में दीक्षित होकर तप को अंगीकार करती होंगी। इतना ही नहीं, बल्कि तप को अङ्गीकार करके अल्पकाल में ही अपनी विशुद्ध आत्मा का दर्शन भी कर पाते होंगे। आप लोग यहाँ थोड़ा बहुत प्रोग्राम बना लेते हैं। दस दिन के लिए घर द्वार छोड़कर तीर्थ-क्षेत्र पर धर्म ध्यान करते हैं, तब सब भूल जाते हैं। लगता है, संसार छूट गया और मोक्ष की ओर जा रहे हैं। दस-अध्यायों में भी देखा जाए तो क्रम-क्रम से मोक्ष-तत्व की ओर जा रहे हैं।

ज्यों-ज्यों भावनाएँ पवित्र होती जाती हैं तो आत्मा को विशुद्ध बनाने की भावना भी प्रबल होती जाती है। इसी के माध्यम से क्रम-क्रम से एक न एक दिन हमें भी तप की शरण मिलेगी और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। जैसे रोगी की जठराग्नि मन्द हो जाने पर पहले धीरे-धीरे मूँग की दाल का पानी देते हैं। बहुत भूख लग जाये तो भी एक दो चम्मच मूँग की दाल के पानी से अधिक नहीं देते, फिर बाद में थोड़ी शक्ति आने पर रोटी बगैरह देना प्रारम्भ कर देते हैं। उसी प्रकार हम भी पुराने मरीज हैं। एक साथ तप

की बात बहुत मुश्किल लगती है तो धीरे-धीरे चारित्र को धारण करके हम अपने तप की अग्नि को बढ़ाते जाएँ और जितनी-जितनी तप में वृद्धि होती जायेगी, उतना-उतना आनन्द आयेगा और यही आनन्द तप में वृद्धि के लिए सहायक बनता जाएगा।

विशुद्धि के साथ किया गया तप ही कार्यकारी होता है। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि अणुव्रतों को धारण करके क्रम-कम से विशुद्धि बढ़ाते हुए आगे महाव्रतों की ओर बढ़ना चाहिये। विशुद्धि हो तो विद्रेह क्षेत्र भी यहीं पर आ सकता है और विशुद्धि न हो तो विदेह भी लुप्त हो सकता है। जहाँ निरन्तर तीर्थङ्कर का सानिध्य बना रहता है वहाँ भी यदि विशुद्धि नहीं है तो तीन-तीन बार दिव्यध्वनि सुनने वाला भी उतनी निर्जरा नहीं कर सकता जितनी कि यहाँ व्रतों के माध्यम से विशुद्धि बढ़ाकर निर्जरा की जा सकती है। बहुत कम लोग ही अवसर का लाभ उठा पाते हैं। संसारी प्राणी की यही विचित्रता है कि जब तक नहीं मिलता तब तक अभाव खटकता है और मिल जाने के उपरान्त वह गौण हो जाता है। उसका सदुपयोग करने की भावना नहीं बनती। जो निकट भव्य-जीव होते हैं वे नियम से तप का अवसर मिलते ही पूरा का पूरा लाभ लेकर अपना कल्याण कर लेते हैं।

आप लोगों से मेरा इतना ही कहना है कि तप एक निधि है, जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को अंगीकार करने के उपरान्त प्राप्त करना अनिवार्य है। बिना तप का अनुष्ठान किये मुक्ति का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। जैसे दीपक की लौ आदि टिमटिमाती हो और स्पन्दित हो, चंचल हो तो न ही प्रकाश ठीक हो पाता है और न ही उससे पर्याप्त ऊष्मा ही मिल पाती है। इसी प्रकार रत्नत्रय के साथ जब तक ज्ञान स्थिर नहीं होता और जब तक उसमें एकाग्रता नहीं आती, तब तक अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को वह ज्ञान अनुभव नहीं कर सकता। अर्थात् मुक्ति में साक्षात् सहायक नहीं बन सकता। चेतना की धारा एक दिशा में बहना चाहिये, और ध्याता और ध्येय की एकरूपता होनी चाहिये।

बन्धुओं! दुनियादारी की चर्चा में अपना समय व्यतीत नहीं करना चाहिये, उससे कोई भी लाभ मिलने वाला नहीं है। सही वस्तु का आलोड़न करने से ही उपलब्धि होती है। दस किलो दूध के दही से आप किलो, दो किलो

नवनीत निकालो तो निकल भी आयेगा, लेकिन उससे चौगुनी मात्रा में भी पानी को मथकर नवनीत चाहो तो जरा भी नहीं निकलेगा। आप लोग दस दिन तक सुबह से शाम जिस प्रकार धार्मिक, आध्यात्मिक कार्य में लगे रहते हैं, उसी प्रकार का कार्यक्रम हमेशा चलता रहना चाहिये। तब कहीं जाकर आत्मा में पवित्रता आना प्रारम्भ होगी। जितना समय इसमें देंगे उतना ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा।

यावत् स्वास्थ्यंशरीरस्य, यावत् इन्द्रियसंपदा।
तावत् युक्तं तपश्कर्म बार्धक्ये केवलं श्रमः॥

जब तक शरीर स्वस्थ है, इन्द्रिय सम्पदा है, ज्ञान है और तप करने की क्षमता है तब तक तप को एकमात्र कार्य मानकर कर लेना चाहिये। क्योंकि वृद्धावस्था में जब शरीर साथ नहीं देता, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और ज्ञान काम नहीं करता, तब हाथ क्या आता है? केवल पश्चात्ताप ही हाथ आता है। यह शरीर भोगों के लिए नहीं मिला और न ही देखने के लिए मिला है, इसके द्वारा तो आत्मा का मन्थन करके अमृत पा लेना चाहिये। आज तो मात्र खाओ, पिओ और मौज करो वाली बात हो रही है। इसके बीच भी यदि कोई विषय-कषाय से विरक्त तप की ओर अग्रसर होता है तो यह उसका सौभाग्य है। इतना ही नहीं, उसका सान्निध्य भी जिसे मिलता है वह भी सौभाग्यशाली है। संसारी प्राणी ने आज तक दृढ़ता के साथ तपश्चरण को स्वीकार नहीं किया। और तो सैकड़ों कार्य सम्पादित किये लेकिन एक यही कार्य नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि दुःख में ही सुख का आभास करने का संस्कार दृढ़ होता गया। आप पूजन करते समय बोलते अवश्य हैं कि-

संसार महादुःख सागर के, प्रभु दुःखमय सुख आभासों में।
मुझको न मिला सुख क्षण भर भी, कञ्चन-कामिनी प्रासादों में ॥[5]

लेकिन भीतर इस बात का अनुभव नहीं हो पाता। तप में दुःख जैसा प्रतीत होता है और इन्द्रिय विषयों में सुख जैसा लगता है। पर वास्तव में देखा जाए तो सच्चा सुख तो तप में ही है। इन्द्रिय-सुख तो मात्र सुखाभास है।

आत्मा की शक्ति अनन्त है। इस श्रद्धान के साथ जो व्यक्ति अपने इस जीवन को अविनश्वर सुख की खोज में लगा देता है उसका जीवन सार्थक हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि-

अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं ।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥[6]

आज भी रत्नत्रय की आराधना करके आत्म-ध्यान में लीन होकर इन्द्रत्व को प्राप्त कर सकते हैं, लौकान्तिक देव बन सकते हैं। इतना ही नहीं, वहाँ से नीचे आकर मनुष्य होकर नियम से मुक्ति पा सकते हैं। बन्धुओं! शेष जीवन न जाने किसका कितना रहा? अगर चाहें तो कम समय में भी पूरी की पूरी कर्म-निर्जरा अपने आत्म-पुरुषार्थ और आत्म बल के द्वारा कर सकते हैं। जो व्यक्ति निमित्त पाकर भी अपने उपादान को जागृत नहीं करता, वह अभी निमित्त-उपादान के वास्तविक ज्ञान से विमुख हैं। निमित्त में कार्य नहीं हुआ करता, कार्य तो उपादान में ही होता है, लेकिन निमित्त के बिना उपादान का कार्य रूप परिणाम कभी न हुआ और न कभी होगा।

रत्नत्रय के साथ बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों प्रकार के तपों का आलम्बन लेकर साधना करने वाला ही मुक्ति सम्पादन कर सकता है। यही एक मुक्ति का मार्ग है।

तपधर्म-

१. मंगतराय कृत बारहभावना १९
२. छहढाला (छठवीं ढाल)
३. परमात्मप्रकाश मंगलाचरण
४. छहढाला (दूसरी ढाल-६)
५. देवशास्त्रगुरु-पूजा - (जयमाल)
६. मोक्षप्राभृत ७७

□□

उत्तम त्याग

णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवेच्चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥

□ **जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जो जीव सारे परद्रव्यों के मोह को छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीन परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म होता है। (७८)**

उत्तम त्याग की बात है। दान और त्याग-ये दो शब्द आते हैं। दोनों में थोड़ा सा अन्तर है। रागद्वेष से अपने को छुडाने का नाम 'त्याग' है। वस्तुओं के प्रति रागद्वेष के अभाव को 'त्याग' कहा गया है। दान में भी रागभाव हटाया जाता है किन्तु जिस वस्तु का दान किया जाता है, उसके साथ किसी दूसरे के लिए देने का भाव भी रहता है। दान पर के निमित्त को लेकर किया जाता है किन्तु त्याग में पर की कोई अपेक्षा नहीं रहती। किसी को देना नहीं है, मात्र छोड़ देना है। त्याग 'स्व' को निमित्त बनाकर किया जाता है।

दान-रूप त्याग के द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह अकेले 'स्व' का नहीं, 'पर' का भी होता है। 'पुरुषार्थ सिद्धियुपाय' ग्रन्थ में आया है कि 'स्वपरानुग्रहहेतोः'[1] 'स्व' के ऊपर अनुग्रह और 'पर' के ऊपर भी अनुग्रह जिससे हो वही दान रूप त्याग धर्म है। जो धर्म में स्खलित हों गये हो, मोक्षमार्ग से च्युत होने को हों, संकट में फँसे हुए हों, उनको सही मार्ग पर लगाना यह तो हुआ 'पर' के ऊपर अनुग्रह और 'स्व' के ऊपर अनुग्रह। इस माध्यम से होने वाला पुण्य का संचय है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि 'परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः स्वोपरोकारः पुण्यसञ्चयः'[2] जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि की वृद्धि होती है, यही 'पर' का उपकार है और दान देने से जो पुण्य का सञ्चय होता है वह अपना उपकार है।

आचार्यों ने दान, पूजा और अभिषेक को श्रावक के प्रमुख कर्त्तव्यों में गिना है। अतिथि सत्कार करना भी प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है। यह सभी शुभ क्रियाएं लोभ को शिथिल करने के लिए हैं। जो लोभ कर्म हमारे आत्मप्रदेशों पर मजबूती से चिपक गया है, जिससे संसारी निःश्रेयस् और अभ्युदय की गति रुक गयी है, उस लोभ-कर्म को तोड़ने का काम यही त्याग धर्म करता है।

त्याग और दान का सही-सही प्रयोजन तो तभी सिद्ध होता है, जब हम जिस चीज का त्याग कर रहे हैं या दान कर रहे हैं, उसके प्रति हमारे मन में किसी प्रकार का मोह या मान-सम्मान पाने का लोभ न हो। क्योंकि जिस वस्तु के प्रति मोह के सद्भाव में कर्मों का बन्ध होता है, वही वस्तु मोह के अभाव में निर्जरा का कारण बन जाती है। बन्धन से मुक्ति की ओर जाने की सरलतम उपाय यदि कोई है तो वह यही त्याग धर्म और दान है।

'आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय'[3]- सामान्य व्यक्ति भी अहितकारी वस्तुओं को सहज ही छोड़ देता है। विष को जिस प्रकार सभी प्राणी सहज ही छोड़ देते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विषय-भोग की सामग्री को अहितकर जानकर छोड़ देते हैं। विषयों को छोड़ने से नियम से भीतर पड़ा हुआ कषाय का संस्कार शिथिल हो जाता है। 'पद्मनंदी पञ्चविंशातिका' में तो एक स्थान पर यह उल्लेख किया है कि अतिथि के दर्शन से जो अहोभाव होता है, उसके निमित्त से मोह का बन्धन ढीला पड़ जाता है। सद्पात्र को दान देकर वह निरन्तर अपने मोह को कम करने में लगा रहता है[4]।

दान के माध्यम से 'स्व' और 'पर' के अनुग्रह में विशेषता यह है कि 'पर' यानी दूसरा तो निमित्त है, उसका अनुग्रह हो भी और नहीं भी, लेकिन 'स्व' के ऊपर अर्थात् स्वयं के ऊपर अनुग्रह तो नियम से होता ही है। मान लीजिये, जैसे तालाब में बाँध बना दिया जाता है और पानी जब तेजी से उसमें भरने लगता है तो लोगों को चिंता होने लगती है कि कहीं पानी के वेग से बाँध टूट न जाये, क्योंकि संग्रहीत हुए पानी की शक्ति अपेक्षाकृत बढ़ जाती है। जो बाँध बनाते हैं वे लोगों को समझा देते हैं कि हमने पहले से ही व्यवस्था बना रखी है। घबराने की कोई बात नहीं है। हमारे पूर्वजों ने पहले ही हमें शिक्षा दे रखी है कि कहीं प्रवेश करो तो बाहर आने का रास्ता पहले ही देख लेना चाहिये, नहीं तो भीतर जाकर अभिमन्यु की तरह स्थिति हो सकती है।

तालाब को बाँधते समय ही पानी के निकालने की व्यवस्था कर दी जाती है। मोरी(गेट) बना देते हैं, तब पानी अधिक होने पर उसमें अपने आप बाहर निकलने लगता है। आपको 'जयपुर' की घटना याद होगी। कैसी भयानक स्थिति बन गयी थी? राजस्थान में हमेशा पानी की कमी रहती है पर उस समय ऐसी वर्षा हुई कि लगातार दो दिन तक पानी ही पानी हो गया और

भारी क्षति हुई। कारण यही था कि पानी तो आता गया, लेकिन निकलने का मार्ग नहीं था। आप समझ गये होंगे कि संग्रह ही संग्रह करते जायेंगे तो क्या स्थिति बनेगी? परिग्रह की सीमा होनी चाहिये। दान करने की आवश्कता उसी परिग्रह को सीमित बनाये रखने के लिए है।

आप यहाँ तीर्थ क्षेत्र पर बैठे हैं। सुबह से शाम तक धर्मध्यान चल रहा है। यहाँ पर किसी प्रकार की द्विविधा नहीं है। सभी रागद्वेष से बचकर वीतराग धर्म की उपासना में लगे हैं। यही यदि आप किसी बड़े शहर में करना चाहते तो दुनिया भर की परेशानियाँ आतीं। नगर-पालिका से या और लोगों से जगह के लिए स्वीकृति (परमीशन) की आवश्यकता पड़ती। वहाँ शोरगुल के बीच धर्मध्यान करना संभव नहीं हो पता। लेकिन यहां इस तरह की कोई बात नहीं है। यहां बंधन नहीं है। यहां तो धर्मध्यान के द्वारा असंख्यात गुणी निर्जरा ही हो रही है। तीर्थक्षेत्र का यही प्रभाव है, या कहिये श्रावक के चार धर्मों- 'दाणं-पूजा-सीलमुववासो सावयाणं चउव्वियो धम्मो'[5] दान, पूजा शील और उपवास में से विशिष्ट दान का सुफल है।

महापुराण में आचार्य जिनसेन लिखते हैं कि भूदान, ग्रामदान, आवासदान, यह सभी दान अभयदान के अन्तर्गत आते हैं। 'पाड़ाशाह' ने यहाँ मन्दिर का निर्माण कराया। शान्तिनाथ भगवान की मनोज्ञ विशाल प्रतिमा जी की स्थापना करायी, जिससे आज तक लाखों लोग यहाँ पर आकर दर्शन-वंदन का लाभ ले रहे हैं। अभिषेक और पूजन करके अपने पापों का विमोचन कर रहे हैं। वीतराग-छवि के माध्यम से वीतरागता का पाठ सीख रहे हैं। पूर्व में कैसे-कैसे उदार-दाता थे, यह बात इन तीर्थों को देखकर सहज ही समझ सकते हैं। त्याग हमारा परम धर्म है। कितनी अच्छी पंक्तियां कवि दौलतराम जी ने लिखी है-

'यह राग आग दहे सदा तातैं समामृत सेइये ।
चिर भजे विषयकषाय अब तो त्याग निजपद बेइये ॥[6]

संसारी प्राणी अपने जीवन के बारे में न जाने कितने तरह के कार्यक्रम बनाता है, पर अहित के कारणभूत रागद्वेष-भाव को त्याग करने का कोई कार्यक्रम नहीं बनाता। बन्धुओं! विषय-कषाय का त्याग ही इस संसार के भीषण दु:खों से बचने का एकमात्र उपाय है।

'इमि जानि, आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख आदरौ।
जबलौं न रोग जस गहै तबलौं झटिति निज हित करो ॥[7]

कितनी भीतरी बात कही है तथा कितनी करुणा से भरकर कही गयी है कि संसार की वास्तविकता को जानकर अब आलस मत करो, साहस करके इस शिक्षा को ग्रहण करो कि जब तक शरीर नीरोग है, बुढ़ापा नहीं आया, तब तक जल्दी-जल्दी अपने हित की बात कर लो। भविष्य के भरोसे बैठना ठीक नहीं है। भविष्य का कोई भरोसा भी नहीं है। अगले क्षण क्या होगा, कहा नहीं जा सकता। बाढ़ आती है और देखते-देखते लोग सँभल भी नहीं पाते और सब बाढ़ में बह जाते हैं। भूकम्प आते हैं और क्षण भर में हजारों की संख्या में जनता मारी जाती है। बन्धुओ! मृत्यु के आने पर कौन कहाँ चला जाता है, पता भी नहीं लगता। सारी की सारी सम्पदा यहीं की यहीं धरा पर धरी रह जाती है। नाम-पता सब यहीं पर पड़ा रह जाता है। इस बीच यदि कोई अपने मन में त्याग का सङ्कल्प कर लेता है तो उसके आगामी जीवन में सुख-शान्ति की सम्भावना बढ़ जाती है।

जीवन्धर कुमार और उनके पिता राजा सत्यन्धर की कथा बहुत रोचक है। प्रेरणास्पद भी है। जीवन्धर के पिता जीवन्धर के जन्म से पहले विलासिता में इतने डूबे रहते थे कि राज्य का काम-काज कैसा चल रहा है, ध्यान ही नहीं रख पाते थे। मन्त्री ने सोचा-अच्छी सन्धि (अवसर) है। उसने भीतर ही भीतर राज्य हड़पने की योजना बना ली और किसी को कुछ पता ही नहीं चला। जब मालूम पड़ा तो राजा सत्यन्धर सोच में पड़ गये कि अब क्या किया जाए? जीवन्धर की माँ गर्भवती थी और जीवन्धर कुमार गर्भ में थे। वंश का संरक्षण करना आवश्यक है, इसलिए पहले जल्दी-जल्दी उनको केकी (मयूर) यन्त्र चालित विमान में बिठाकर दूर भेज दिया और स्वयं युद्ध की तैयारी में लग गये। अपने ही मन्त्री काष्ठांगार से युद्ध करते-करते राजा सत्यन्धर के जीवन का अन्त समय जब निकट आ गया तो वे विचार मग्न हो गये-

'सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्षमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्वे ॥[8]

पहले राजा लोग बड़े सजग होते थे। पुत्र रत्न की प्राप्ति होते ही घर द्वार छोड़कर तपस्या के लिए वन में जाकर दीक्षा धारण कर लेते थे। यदि आकस्मिक मृत्यु का अवसर आ जाता तो तत्काल सब छोड़कर आत्म-कल्याण के लिए सङ्कल्पित हो जाते थे। यही राजा सत्यन्धर ने किया। वे रणाङ्गन में ही दीक्षित होकर सद्गति को प्राप्त हुए। त्याग जीवन का अलङ्कार है, क्योंकि

गृहस्थावस्था में भले ही राग भाव से विभिन्न प्रकार के अलङ्कार धारण किये जाते हैं, लेकिन मुनि अवस्था में त्याग भाव ही अलङ्कार है।

पहले श्रावक होते हुए भी पण्डित वर्ग में त्याग की भावना कूट-कूट कर भरी थी। पं. दौलतराम जी के बारे में कहा जाता है कि वे छोटा सा वस्त्रों की रँगाई का काम करते थे। लेकिन 'छहढाला' का निर्माण किया, जिसे पढ़ने पर स्वत: ही मालूम पड़ जाता है कि कैसी भीतरी त्याग की भावना रही होगी। 'कब मिल हैं वे मुनिराज' जैसी भजन की पंक्तियाँ लिखीं मिलती हैं, क्योंकि उस समय उनको मुनिदर्शन का अभाव खटकता होगा। शास्त्र में जैसे त्याग तपस्या के उदाहरण लिखे हैं, उनका पढ़कर वे गद्गद् हो जाते थे और उसी की ओर अग्रसर होने की भावना रखते थे। तभी तो भजन के माध्यम से उन्होंने ऐसे भाव व्यक्त किये।

एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि त्याग की साक्षात् जीवित मूर्ति के समागम में बिना त्याग के मार्ग में अग्रसर होना सम्भव नहीं है। जैसे कहा जाता है कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रङ्ग बदलता है अर्थात् पकने लगता है, ऐसे ही त्यागी-व्रती को देखकर त्याग के भाव सहज ही जागृत हो जाते हैं। बन्धऽधिकौ पारिणामिकौ च[9] -बन्ध होते समय दो अधिक शक्त्यंश वाला, दो हीन शक्त्यंश वाले का परिणमन कराने वाला होता है। कोई त्यागी ऐसा अद्भुत त्याग कर देता है कि जिसे देखकर रागी के मन में भी त्याग भाव आ जाता है। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि त्याग स्वाधीन है अर्थात् अपने आधीन है। त्याग की भावना उत्पन्न होना स्वाश्रित है। निमित्त को लेकर उसमें तेजी आ जाती है। इसी अपेक्षा यह बात कही गयी है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि-

कर्मपरवशे सान्ते दु:खैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥[10]

सांसारिक सुखों की वांछा व्यर्थ है, क्योंकि सांसारिक सुख सब कर्माधीन हैं। कर्म का उदय कैसे-कैसे परिवर्तन लायेगा, कहा नहीं जा सकता। एक ही रात में नदी अपना रास्ता बदल लेती है और सब तहस-नहस हो जाता है। सुन्दर उपवन के स्थान पर रेगिस्तान होने में देर नहीं लगती। चले जा रहे हैं रास्ते में और अचानक जीप पलट गयी। जीवन का अन्त हो गया, तो जीप क्या पलटी, वह तो भीतरी कर्म ही पलट गया। यही तो कर्माधीन होना है। सांसारिक सुखों की आकांक्षा दु:ख लेकर आती है, और दु:ख का बीज छोड़कर जाती

है। ऐसे सांसारिक सुखों में निकांक्षित सम्यग्दृष्टि आस्था नहीं रखता। सम्यग्दृष्टि तो अर्थ (सम्पत्ति) में नहीं, परमार्थ में आस्था रखता है।

जैसे सांसारिक मामलों में सही व्यापारी वही माना जाता है, जो अपने व्यापार में दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि करता है और अर्थ के माध्यम से अर्थ कमाता है। ऐसे ही परमार्थ के क्षेत्र में परमार्थ का विकास परमार्थ के माध्यम से होता है अर्थात् अर्थ के त्याग के माध्यम से होता है। जितना-जितना आप अर्थ के बोझ से मुक्त होंगे, अर्थ का त्याग करते जायेंगे, उतना-उतना परमार्थ भाव के द्वारा ऊपर उठते जायेंगे। परमार्थ भाव से दिया गया दान अकेले बन्ध का कारण नहीं है, वह परम्परा से मुक्ति में भी सहायक बनता है। वह यहाँ भी सुखी बनाता है और जहाँ भी जाना हो, वहाँ भी सुख की ओर अग्रसर कराने वाला होता है।

यहाँ प्रसङ्गवश कहना चाहूँगा कि 'दौलत' का अर्थ निकालें तो ऐसा भी निकल सकता है कि जो आते समय व्यक्ति के सामने सीने पर लात से आघात करती है तो अहंकार वश व्यक्ति का सीना फूल जाता है। वह अकड़कर चलने लगता है। लेकिन वही दौलत जाते समय मानों अपनी दूसरी लात व्यक्ति की पीठ पर मारकर चली जाती है और व्यक्ति की कमर झुक जाती है। वह मुख ऊपर उठाकर नहीं चल पाता। यही दौलत की सौबत का परिणाम है। ज्ञानी वही है, जो वर्तमान में मिलने वाली विषय भोगों की सामग्री (धन-सम्पदा आदि) के प्रति हेय-बुद्धि रखता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार जी में कहा है कि-

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥[11]

ज्ञानी के सदा ही वर्तमान काल के कर्मोदय का भोग, वियोग बुद्धि अर्थात् हेय बुद्धि से होता है और ज्ञानी भावी भोगों की आकाङ्क्षा भी नहीं करता।

दान इत्यादि के प्रति ज्ञानी की हेय बुद्धि नहीं होती। पूजा, अभिषेक के प्रति भी हेय बुद्धि नहीं होती। अपने षट्-आवश्यकों के प्रति भी हेय-बुद्धि नहीं आती, मात्र विषयभोगों के प्रति हेयबुद्धि आ जाती है। दान आदि के माध्यम से जो पुण्य का अर्जन होता है, उसके प्रति भी हेयबुद्धि नहीं होती, किन्तु पुण्य के फलस्वरूप मिलने वाली सांसारिक सामग्री के प्रति उसकी हेय बुद्धि अवश्य होती है। सम्यग्दृष्टि जैसे-जैसे भोगों का त्याग करता जाता

है, वैसे-वैसे ही उसे भोग सामग्री और अधिक प्राप्त होने लगती है लेकिन वह उसे त्याज्य ही मानता है और ग्रहण नहीं करता।

भगवान अभिनिष्क्रमण करते हैं, राजपाट और राजभवन के समस्त वैभवों का त्याग कर देते हैं और दीक्षा ले लेते हैं। तब राज्य के सभी जन उनकी सेवा के लिए साथ चलने को तत्पर हो जाते हैं। इन्द्र सेवा में आकर खड़ा हो जाता है, लेकिन भगवान किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वे अपनी आत्मा की खोज में वन की ओर गमन कर देते हैं और भीतर ही भीतर आत्मध्यान में लीन होते जाते हैं। उपसर्ग आने पर भी प्रतिकार करने के लिए बाहर नहीं आते और न ही किसी की अपेक्षा रखते हैं। तब जाकर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है, और अभी इतना ही नहीं, समवशरण की रचना होने लगती है। तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ समझी जाने वाली दैवीय सम्पदा समवशरण की रचना में लगायी जाती है। लेकिन भगवान..... भगवान तो उस विशाल समवशरण के एक कण को भी नहीं छूते, वे तो कमलासन पर भी चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्ष में विराजमान रहते हैं। यही हमारे वीतराग भगवान की पहचान है।

संसारी प्राणी जिस सम्पदा के पीछे दिन-रात भाग-दौड़ कर रहा है, वही सम्पदा भगवान के पीछे आकृष्ट हो रही है और उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा कर रही है। तभी तो केवलज्ञान के उपरान्त भी उनके नीचे, आगे-पीछे चारो तरफ समवशरण के रूप में सम्पदा बिछी हुई है। अन्त में जब भगवान योग-निग्रह अर्थात् मन-वचन-काय की सूक्ष्म क्रियाओं का भी निरोध करने चल देते हैं तो समवशरण की वह सम्पदा भी पीछे छूट जाती है। यह त्याग की अन्तिम परम घड़ी है। इसके उपरान्त ही उन्हें मुक्ति का लाभ मिल जाता है।

बन्धुओं! आज तक त्याग के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिली और मिलना भी सम्भव नहीं है। जब भी मुक्ति मिलेगी, त्यागपूर्वक ही मिलेगी। सोचो, सुमेरू पर्वत और सौधर्म स्वर्ग के प्रथम पटल के बीच बाल मात्र का अन्तर होते हुए भी कोई विद्याधर चाहे कि स्वर्ग के विमानों में चला जाऊँ तो छलाँग मारकर जा नहीं सकता। यही बात मुक्ति के विषय में है कि कोई बिना त्याग के, यूँ ही छलाँग लगाकर सिद्ध शिला पर पहुँचना चाहे और सिद्धत्व का अनुभव करना चाहे तो नहीं कर सकता। त्याग के बिना यह सम्भव ही नहीं है।

ध्यान रखना, त्याग के द्वारा जो अतिशय-पुण्य का सञ्चय सम्यग्दृष्टि को होता है, वह पुण्य का सञ्चय मोक्षमार्ग में कभी भी बाधक नहीं बन सकता। पुण्य के फल में राग भाव होना बाधक बने तो बन सकता है। क्योंकि पुण्य के फल में हर्ष-विषाद की सम्भावना होती है। पूज्यपाद स्वामी ने पुण्य की परिभाषा कही है कि 'पुनाति आत्मानं पूयतेऽनेन इति वा पुण्यम्'[12] जो आत्मा को पवित्र बना दे या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होता है वह 'पुण्य' है। घातिया-कर्मों के क्षय करने के लिए यही सातिशय पुण्य आवश्यक है। तभी केवलज्ञान की प्राप्ति करके आत्मा स्व-पर प्रकाशक होकर पवित्र होती है।

इस तरह का पुण्य चाहने से नहीं मिलता। पुण्य के फल के प्रति निरीहता आने पर अपने आप मिलता है। जैसे किसी व्यक्ति का पैर फिसल जाए और वह कीचड़ में गिर जाये तो सारा शरीर कीचड़ से लथपथ हो जाता है, तब उस कीचड़ से मुक्त होने के लिए उसे जल की आवश्यकता महसूस होती है। जल उस कीचड़ को साफ करके स्वयं भी शरीर के ऊपर अधिक नहीं टिकता। जो दो चार बूँदें रह भी जाती हैं, वे मोती के समान चमकती रहती हैं और कुछ देर में वे भी समाप्त हो जाती हैं। यही स्थिति पुण्य की है। पाप-पङ्क से मुक्त होने के लिए पुण्य के पवित्र जल की आवश्यकता पड़ती है। जो त्याग के फलस्वरूप स्वत: मिलता जाता है।

भगवान की भक्ति पाप के क्षय में तो निमित्त है ही, साथ ही साथ, कर्त्तव्य-बुद्धि से की जाने पर पुण्य के सञ्चय में भी कारण बनती है। उसे तात्कालिक उपादेय मानकर करते जाइये तो वह भी मोक्षमार्ग में साधक है। केवल शुद्धोपयोग से ही संवर होता है या निर्जरा होती है, ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिये। शुभोपयोग को भी आचार्यों ने संवर और निर्जरा का कारण कहा है। उसे भी परम्परा से मुक्ति का कारण आचार्यों ने माना है। इसलिए दान और त्यागादि शुभ क्रियाओं के द्वारा केवल पुण्य बन्ध ही होता है, ऐसा एकान्त नहीं है।

इन शुभ-क्रियाओं द्वारा और शुभ भावों के द्वारा संवरपूर्वक असंख्यात गुणी निर्जरा संयमी व्यक्ति को निरन्तर होती है। व्रत के माध्यम से, भक्ति और स्तुति के माध्यम से तथा षडावश्यक क्रियाओं के माध्यम से संयमी व्यक्ति संवर और निर्जरा दोनों ही करता है, तभी दानादि क्रियाएं 'पर' के साथ-साथ 'स्व' का अनुग्रह करने वाली कहीं गयी हैं।

एक उदाहरण याद आ गया। युधिष्ठिर जी पांडवों में सबसे बड़े थे। दानवीर माने जाते थे। एक बार एक याचक ने आकर उनसे दान की याचना

की। वे किसी कार्य में व्यस्त थे तो कह दिया कि थोड़ी देर बाद आना या कल ले जाना। भीम जी को जब मालूम पड़ा तो वे आये और बोले भइया! ये भी कोई बात हुई। क्या आपने मृत्यु को जीत लिया है? क्या अगले क्षण का आपको भरोसा है कि बचेंगे ही? अभी दे दो। अन्यथा विचार बदलने में भी देर नहीं लगती। बन्धुओ! त्याग का भाव आते-आते भी राग का भाव जा सकता है क्योंकि राग का संस्कार अनादिकाल का है, इसलिये 'शुभस्य शीघ्रम्' वाली बात होना चाहिये। ताकि त्याग का संस्कार आगे के लिए भी दृढ़ होता जाये।

राग के द्वारा संसार के बन्धन का विकास होता है तो वीतराग भावों के द्वारा संसार से मुक्त होने के मार्ग का विकास होता है। जो वीतराग बने हैं, जिन्होंने उत्तम त्यागधर्म को अपनाया है, उनके प्रति हमारा हार्दिक अनुराग बना रहे। उनकी भक्ति, स्तुति और उनका नाम स्मरण होता रहे, यही संसार से बचने का एकमात्र सरलतम उपाय है, प्रशस्त मार्ग है।

त्यागधर्म -

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय १६७
२. सर्वार्थसिद्धि ७/३८/७२६/२८१/७
३. दौलतराम कृत-जिनेन्द्रस्तुति
४. पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका-श्लोक ५/पृ. ११३ (द्वितीय अध्याय)
कान्तात्मजद्रविण मुख्यपदार्थसार्थ-
प्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे।
पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वाद्
दानं परं परमसात्विकभावयुक्तम् ।।
५. कसायपाहुड भाग १/८२/१००-दाणं पूजासीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो
६. छहढाला (छठवीं ढाल १५)
७. छहढाला (छठवीं ढाल १४)
८. अमितगति आचार्य कृत सामायिक-भावना-द्वात्रिंशतिका-१९
९. तत्त्वार्थसूत्र ५/३७
१०. रत्नकरण्डक श्रावकाचार-१२
११. समयसार-२२८
१२. सर्वार्थसिद्धि ६/३१४/२४५/१२

□□

उत्तम आकिञ्चन्य

होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं॥
णिद्दंदेण दु बट्टदि, अणयारो तस्स किंचणहं ॥

□ **जो मुनि सर्व प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर और सुख-दुःख के देने वाले कर्मजनित निज भावों को रोककर निर्द्वन्द्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है, उसके आकिञ्चन्य धर्म होता है।**

विहाय यः सागरवारिवाससं बधूमिवेमां बसुधाबधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥[1]

आदि तीर्थंकर भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि जिन्होंने सागर तक फैली हुई वसुन्धरा को, अपने समस्त राजवैभव को और यशस्वती और सुनन्दा जैसी बधुओं (पत्नियों) को छोड़ दिया और मुमुक्षु बनकर एकाकी वन में विचरण करने का सङ्कल्प ले लिया, संन्यासी हो गये, प्रव्रज्या को अंगीकार कर लिया; ऐसे आत्मवान् भगवान इक्ष्वाकु वंश के प्रमुख थे। आपका धैर्य सराहनीय था। आप सहिष्णु थे तथा अपने मार्ग से कभी विचलित नहीं हुए।

तीर्थङ्कर का यह एक और नियम होता है कि दीक्षा के उपरान्त जब तक केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो जाती, तब तक वे किसी से बोलते नहीं है। मौन-साधना में ही उनका काल व्यतीत होता है। आदिनाथ भगवान का काल भी ऐसा ही आत्म-साधना में एकाकी मौन रहकर बीता। एकाकी होकर मुक्ति के मार्ग पर चलना, यही सही प्रव्रज्या है।

इसी बीच कुछ दिनों के बाद कहते हैं कि नमि और विनमि जो उनके पौत्र थे, वे आये और प्रार्थना करने लगे कि हे पितामह! हमें आपने कुछ नहीं दिया। हम तो कुछ भी पाने से वञ्चित रह गये। हमें भी कुछ दीजियेगा। हमें भी कुछ कहियेगा। जब बहुत देर तक कोई उत्तर नहीं मिला तो सोचा कि ये अपने ध्यान में होंगे, अतः एकदम बार-बार पूछना ठीक नहीं है और अभी जब ध्यान से उठेंगे तो पूछ लेंगे। ऐसा सोचकर वे कहीं बैठ गये और सङ्कल्प कर लिया कि कुछ लेकर ही उठेंगे। लेकिन भगवान तो भगवान हैं। वे ध्यान में लीन रहे, कुछ नहीं बोले और कोई सङ्केत भी नहीं किया। समय बीतता गया। वे दोनों पौत्र भी वहीं बैठे रहे।

कहते हैं कि इन्द्र देव का सिंहासन हिल गया। वह आया और सारी बात समझकर बोला-सुनो कुमार! आप देर से आये। भगवान तो ध्यानस्थ हो गये हैं। अब वे बोलेंगे भी नहीं, पर दीक्षा लेने से पहले वे हमसे कह गये हैं कि तुम दोनों के आने पर कह देना कि भगवान तुम्हें विजयार्ध का राज्य दे गये हैं। ऐसा इन्द्र ने उन्हें समझा दिया। जैसे आप लोग बोल देते हैं चौके में आकर कि महाराज! हम तो इतई के आयें। बात जम गयी और दोनों ने सोचा कि भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करना चाहिये और वे उठकर विजयार्ध की श्रेणी में पहुँच गये। इन्द्र ने सोचा-चलो, अच्छा हुआ, अन्यथा भगवान की तपस्या में विघ्न हो जाता। हमने विघ्न नहीं आने दिया।

लेकिन भगवान तो इस सबसे बेखबर अपने ध्यान में लीन थे। एकत्व-भावना चल रही थी। कोई भी चला आये, मन में बोलने का भाव नहीं आया। यहाँ जब किञ्चित् भी मेरा नहीं है तो किसी से क्या कुछ कहना। यही है उत्तम-आकिञ्चन्य भावना

'आप अकेलो अवतरै मरै अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को साथी सगा न कोय'॥[2]

अकेले उत्पन्न हुए और अकेले ही मर जाना है। यदि तरना चाहें तो अकेले ही तरना भी है। अकेले होने की बात और मरने की बात ये दोनों बातें संसारी प्राणी को नहीं रुचतीं।

एक व्यक्ति ज्योतिषी के पास गया और पूछा कि मेरी उम्र कितनी है बताइये? ज्योतिषी ने हाथ देखकर कहा कि क्या बतायें आपकी उम्र तो इतनी लम्बी है कि आपके सामने देखते-देखते आपके परिवार के सभी सदस्य मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। सुनकर वह व्यक्ति बड़ा नाराज हुआ कहने लगा कि कैसा बोलते हो? और बिना पैसे दिये ही चला आया। पुनः वही दूसरे ज्योतिषी के पास पहुँचा और सारी बात बताकर पूछा कि मेरी उम्र- ठीक-ठीक बताइये, कितनी है? दूसरा ज्योतिषी समझ गया कि सत्य को यह सीधे सुनना नहीं चाहता। इसलिए उसने कहा कि भाई! आपकी उम्र बहुत लम्बी है। आपके घर में ऐसी लम्बी उम्र और किसी को नहीं मिली है, वह व्यक्ति सुनते ही बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे पैसे देकर खुशी-खुशी घर लौट आया।

बन्धुओं! ऐसी ही दशा प्रत्येक संसारी प्राणी की है। वह एकाकी होने से डरता है। वह मरण के नाम से डरता है। लेकिन अनन्तकाल से इस संसार में अकेला ही आ-जा रहा है। अकेला ही जन्म-मरण कर रहा है। आचार्य

शुभचन्द्र जी हुए हैं जो ध्यान के महावेत्ता और ध्याता भी थे। उन्होंने अपनी ध्यान की अनुभूतियों को लिखते हुए ज्ञानार्णव में कहा है कि पर्यायबुद्धि अर्थात् शरीर में ममत्व-बुद्धि को छोड़कर साधक को ऐसी धारणा बनाना चाहिये कि मैं अकेला हूँ, नित्य हूँ, अवस्थित हूँ और अरूपी हूँ। 'नित्य' इसलिए क्योंकि आत्मा कभी मिटने वाली नहीं है। 'अवस्थित' का अर्थ है- अस्तित्व कभी घटेगा-बढ़ेगा नहीं। एक रूप ही रहेगा और रूप भी वैसा कि अरूपी स्वरूप होगा। ऐसी धारणा बनाने वाला तथा आकिञ्चन भाव को भाने वाला ही ध्यान के द्वारा मुक्ति पा सकता है।

मन में विचार उठ सकता है कि जब पूरा का पूरा परिग्रह छोड़ दिया, उसका त्याग हो गया एवं अकेले रह गए, तो क्या सोचना चाहिये तथा क्या धारणा बनाना चाहिये? तो कहा गया है कि अग्नि-धारणा, वायु-धारणा और जल-धारणा के माध्यम से ध्यान करना चाहिये। अग्नि-धारणा के माध्यम से कर्मों का ईन्धन जल गया है। वायु उसे उड़ा ले गयी है और जल की वृष्टि होने से सारा का सारा वातावरण स्वच्छ हो गया है। आत्मा विशुद्ध हो गयी है। कुछ भी उस पर शेष नहीं रह गया है। एक अकेली आत्मा का साक्षात् अनुभव हो रहा है।

एगो मे सस्सदो आदा णाणंदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥[3]

मैं एक अकेला शाश्वत आत्मा हूँ, जानना-देखना मेरा स्वभाव है, शेष जो भी भाव हैं, वे सब बाहरी हैं तथा संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

एक सेठ जी थे। किसी ने मुझे सुनाया था कि वे बड़े अभिमानी थे। उन्होंने दस-बारह खण्ड के भवन का निर्माण कराया। एक बार कोई एक साधु जी उनके यहाँ आये। अतिथि की तरह उनका स्वागत हुआ और भोजन के उपरान्त सेठ जी बड़े चाव से उन्हें साथ लेकर पूरा का पूरा भवन दिखाने लगे और अन्त में दरवाजा आया तो सभी बाहर निकल आये। साधु जी के मुख से अचानक निकल गया कि एक दिन सभी दरवाजे के बाहर निकाल दिये जाते हैं, तुम भी निकाल दिये जाओगे। सेठ जी हतप्रभ खड़े रह गये। साधु जी चले गये। सेठ जी अकेले खड़े-खड़े सोचते रहे कि क्या मुझे भी एक दिन बाहर निकल जाना होगा? भइया! स्वर्ण की नगरी लङ्का नहीं रही, रावण नहीं रहा, अयोध्या का वैभव नहीं रहा। कृष्ण जी नारायण थे लेकिन उनका भी अवसान हुआ, सो वह भी जङ्गल में। दुनिया में सैकड़ों आये और

चले गये। ऐसे ही सभी को अकेले-अकेले ही यहाँ से चले जाना होता है?

चक्रवर्ती दिग्विजय के उपरान्त विजयार्ध पर्वत के उस ओर वृषभगिरि के ऊपर अपनी विजय की प्रशस्ति और अपना नाम लिखने जाते हैं, तब वहाँ पहुँचकर मालूम पड़ता है कि हमसे पहले सैकड़ों चक्रवर्ती हो चुके हैं। पूरे पर्वत पर कोई स्थान खाली नहीं मिलता जहाँ अपना नाम लिखा जा सके। यह संसार ऐसा ही है। अनादि काल से यह चल रहा है। 'जीव अरु पुद्गल नाचै यामैं कर्म उपाधि है'[4] -इस रहस्य को समझना होगा। इसकी कथा इतनी लम्बी-चौड़ी है कि तीर्थंकर भगवान ही केवलज्ञान से विभूषित होकर इसे जान सकते हैं। इस रहस्य को थोड़ा बहुत जानकर के अपने आपको अकेला समझने का प्रयास करना चाहिये।

संसार एक ऐसा स्वप्न है जो सत्य सा मालूम पड़ता है। जैसे कोई व्यक्ति नाटक में कोई भी वेश धारण करता है तो उसी रूप में अपने को मानने लगता है और खुश होता है। कभी-कभी वह नाना वेश बदल-बदल कर लोगों के सामने आता है, तब अपने वास्तविक रूप को उस क्षण पहचान नहीं पाता। ऐसे ही संसारी प्राणी संसार में सारे वेषों से रहित होकर अकेले अपने रूप का अनुभव नहीं कर पाता। स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने वाला कोई विरला ही अपने इस आकिञ्चन्य भाव का अनुभव कर पाता है।

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥[5]

देवागम स्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र स्वामी आप्त की मीमांसा करते हुए अन्त में अध्यात्म की ओर ले जाते हैं। शान्ति आत्मा के भीतर जाने में ही है। बाह्य परिधि में चक्कर लगाते रहने से शान्ति नहीं मिलती। स्वर्ण की विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा जो देखता है, वह पर्याय में हर्ष या विषाद को प्राप्त होता है। एक को स्वर्ण के कुम्भ की आवश्यकता थी और दूसरे को स्वर्ण के मुकुट की आवश्यकता थी। मान लीजिये, अभी स्वर्ण, कुम्भ के रूप में था और अब सुनार ने उसे मिटाकर मुकुट का रूप धारण करा दिया तो कुम्भ या घड़ा जिसे चाहिये था वह रोने लगा कि मेरा कुम्भ फूट गया। जिसे मुकुट चाहिये था वह हँसने लगा कि मुझे मुकुट मिल गया। किन्तु जिसे स्वर्ण की आवश्यकता थी, वह दोनों ही स्थितियों में न हँसा न रोया, क्योंकि उसे जो स्वर्ण चाहिये था, वह तो मुकुट हो या कुम्भ हो, दोनों में विद्यमान था। यही तो स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने का फल है।

हमें विचार करना चाहिये, कि बाहर यह जो कुछ भी दिख रहा है/सो मैं नहीं हूँ/और वह/मेरा भी नहीं है/ये आँखें मुझे/(आत्मा) को/देख नहीं सकतीं/मेरे पास देखने की शक्ति है...[6] इन आँखों से केवल बाहरी वातावरण ही देखने में आता है। जो इन आँखों से देख रहा है, वह नहीं दिख पाता। उसे ये आँखें देख नहीं पाती। देख भी नहीं सकतीं। तब फिर जो दिखाई पड़ रहा है, आँखों से, वह मैं कैसे हो सकता हूँ और वह मेरा कैसे हो सकता है?

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥[7]

मैं अकेला हूँ। शुद्ध हूँ। आतमरूप हूँ। मैं ज्ञानवान् और दर्शनवान् हूँ। मैं रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप नहीं हूँ। सदा अरूपी हूँ। कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। इस प्रकार की भावना जिसके हृदय घर में हमेशा भरी रहती है, ध्यान रखना, उसका संसार का तट बिल्कुल निकट आ चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस भावना को निरन्तर भाते रहने से ही हमें वैराग्य आ सकता है। इस भावना के द्वारा ही हमारे भीतर के कर्म के बन्धन छूट सकते हैं। संसार में कर्तृत्व बुद्धि और भोक्तृत्व बुद्धि, स्वामित्व बुद्धि, इन तीनों प्रकार की बुद्धियों के द्वारा ही संसारी प्राणी की बुद्धि समाप्त हो गयी है। वह बुद्धिमान होकर भी बुद्धू जैसा व्यवहार कर रहा है। अनन्तों बार जन्म-मरण की घटना घट चुकी है और अनन्तों बार जन्म-मरण के समय एकाकी ही इस जीव ने अपनी संसार की यात्रा की है। आज अपने को समझदार मानने वाला भी मझधार में ही है।

थोड़ा विचार करें तो ज्ञात होगा कि कितनी पर्यायें, कितनी बार हमने धारण की और कितनों का संयोग-वियोग हमारे जीवन में हुआ है। जिसके वियोग में यहाँ पर हम रोते हैं, वह मरण के उपरान्त एक समय में ही अन्यत्र कहीं पहुँचकर जन्म ले लेता है और वहीं रम जाता है। विष्ठा का कीड़ा विष्ठा में राजी वाली बात है। उसके वियोग में हमारा रोना अज्ञानता ही है। आचार्य कहते हैं कि यह सब पराये को अपना मानने का तथा पर-पदार्थों में एकत्व-बुद्धि रखने का ही परिणाम है। पर के साथ एकत्व बुद्धि छोड़ना ही एक मात्र पुरुषार्थ है। छोड़ते समय जिसे ज्ञान और विवेक जागृत हो जाता है उस की आँख खुल गयी है, ऐसा समझना चाहिये।

दुनिया के सारे सम्बन्धों के बीच भी मैं अकेला हूँ, यही भाव बना रहना आकिञ्चन्य धर्म का सूचक है। 'सागर' में एक बार बोली लग रही थी, तब

तक बोली तेरा सौ एक रुपये में गयी। हमने तो वही विचार किया कि अच्छा रहस्य खुल गया 'तेरा सो एक' अर्थात् हमारा यदि कुछ है तो वह हमारा यही एकाकी भाव है। इस संसार में किसी का कोई साथी-सगा नहीं है।

आप अकेलो अवतरै, मरे अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय ॥[8]

बन्धुओं! समझ लो एवं सोच लो। यह जो ऊपर पर्याय दिख रही है, यह वास्तव में हमारी नहीं है। हम इसी के लिए निरन्तर अपना मानकर परिश्रम कर रहे हैं, और दु:ख उठा रहे हैं। विवेक के माध्यम से इस पर्याय को अपने से पृथक् मानकर के यदि इस जीवन को चलाया जाये, जो जीवन आज दु:खमय बना है, वही आनन्दमय हो जाएगा। जिसकी तत्त्व पर दृष्टि चली जाती है, वह फिर पर्याय को अपना आत्म-तत्व नहीं मानता और न ही पर्याय में होने वाले सुख-दु:ख को भी अपना मानता है। यही आध्यात्मिक उपलब्धि है। इसके अभाव में ही जीव संसार में कहाँ-कहाँ भटकता रहता है और निरन्तर दु:खी होता है।

हमारी इस प्रवृत्ति को देखकर आचार्यों को करुणा आ जाती है। 'कहें सीख गुरु करुणा धारि'[9] -वे करुणा करके हमें उपदेश देते हैं, शिक्षा देते हैं कि पाँच मिनिट के लिए ही सही लेकिन अपनी ओर, अपने आत्म-तत्व की ओर दृष्टि उठाकर तो देखो, जो कुछ संसार में दिखाई दे रहा है, वह सब कर्म का फल है। अज्ञान का फल है। आत्मा के स्वभाव का फल तो जिन्होंने आत्म-स्वभाव को प्राप्त कर लिया है, उसके चरणों में जा कर ही जाना जा सकता है। बाहर के जगत् में सिवा दु:ख के और कुछ हाथ नहीं आता। भीतर जगत् में जाकर देखें कि भीतर कैसा खेल चल रहा है। कर्म किस तरह आत्मा को सुख-दु:ख का अनुभव करा रहा है।

यह आत्म-दृष्टि पाना एकदम सम्भव नहीं है। यह मात्र पढ़ने या सुनने से नहीं आती। इसे प्राप्त करने के लिए जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जो वीतरागी हैं, जो तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते, उनके पास जाकर बैठिये। पूछिये भी मत, मात्र पास जाकर बैठिये तो भी अपने आप ज्ञान हो जायेगा कि वास्तव में सुख तो अन्यत्र कहीं नहीं है। सुख तो अपने भीतर एकाकी होने में है। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि-

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥[10]